जन्म शताब्दी पुस्तकमाला-२६

तीन शक्तियाँ तीन सिद्धियाँ

(प्रवचन)

तीन शक्तियाँ—तीन सिद्धियाँ

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ बोलें—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

देवियो, सज्जनो!

इस संसार में कुल मिलाकर तीन शक्तियाँ हैं, तीन सिद्धियाँ हैं। इन्हीं पर हमारा सारा जीवन-व्यापार चल रहा है। लाभ-सुख जो भी हम प्राप्त करते हैं इन्हीं तीन शक्तियों के आधार पर हमें मिलते हैं। पहली शक्ति है—श्रम की शक्ति, शरीर के भीतर की शक्ति भगवान की दी हुई। इससे हमें धन व यश मिलता है। जमीन पहले भी थी, अभी भी है। यह मनुष्य का श्रम है। जब वह लगा तो वह सोना, धातुएँ, अनाज उगलने लगी। जितना भी सफलताओं का इतिहास है, वह आदमी के श्रम की उपलब्धियों का इतिहास है। यही सांसारिक उन्नति का इतिहास है।

जमीन कभी ब्रह्माजी ने बनाई होगी तो ऐसी ही बनाई होगी जैसा कि चंद्रमा है। यहाँ गड्ढा वहाँ खड्ढा—सब ओर यही। श्रम ने धरती को समतल बना दिया। नदियाँ चारों ओर उत्पात मचा देती थीं। जलप्लावन से प्रलय सी आ जाती थी। रास्ते बंद हो जाते थे। ब्याह-शादियाँ भी बंद हो जाती थीं, उन चार महीनों में जिन्हें चातुर्मास कहा जाता है, सुना होगा आपने नाम। आदमी जहाँ थे, वहीं कैद हो जाते थे। यह आदमी का श्रम है, आदमी की मशक्कत है कि आदमी ने पुल बनाए, नाव बनाई, बाँध बनाए। अब वह बंधन नहीं रहा। सारी मानव जाति श्रम पर टिकी है, आदमी का श्रम जिसकी हम अवज्ञा करते हैं। दौलत हमेशा आदमी के पसीने से निकली है। आपको संपदा के लिए कहीं गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने की जरूरत नहीं है। एक ही देवता है—श्रम का देवता। वही देवता आपको दौलत दिला सकता है। उसी की आपको आराधना-उपासना करनी चाहिए।

माना कि आपके बाप ने कमाकर रख दिया है, पर बिना श्रम के उसकी रखवाली नहीं हो सकती। श्रम कमाता भी है, दौलत की रखवाली भी करता है। हम श्रम का महत्त्व समझ सकें, उसे नियोजित कर सकें तो हम निहाल हो सकते हैं। मात्र संपत्ति-समृद्ध ही नहीं हम अन्यान्य दौलत के भी अधिकारी हो सकते हैं। सेहत, मजबूती श्रम से ही आती है। शिक्षा, कला-कौशल, शालीनता, लोक-व्यवहार में पारंगतता श्रम से ही प्राप्त होती है। बेईमानी से, चालाकी से आदमी दौलत की छीन-झपट मात्र कर सकता है, पर उसे कमा नहीं सकता। आप यदि फसल बोना चाह रहे हैं तो बीज बोइए। यदि चालाकी करें, बीज खा जाएँ तो कुछ नहीं होने वाला। हर आदमी को ईमानदारी से श्रम किए जाने की मशक्कत की कीमत समझाइए। संपदा अभीष्ट हो, विनिमय करना चाहते हों तो कहिए श्रमरूपी पूँजी अपने पास रखें। उसका सही नियोजन करिए। यह है दौलत नंबर एक।

दो नंबर की दौलत है—हमारी ज्ञान की, विचार करने की शक्ति। हमें जो भी प्रसन्नता मिलती है इसी ज्ञान की शक्ति से मिलती है, खुशी दिमागी बेलेंस से प्राप्त होती है। यह बाहर से नहीं आती, भीतर से प्राप्त होती है। जब हमारा मस्तिष्क संतुलित होता है तो हर परिस्थिति में हमें चारों ओर प्रसन्नता ही प्रसन्नता दिखाई देती है। घने बादल दिखाई देते हैं तो एक सोच सकता है कि कैसे काले मेघ आ रहे हैं अब बरसेंगे। दूसरा सोचने वाला कह सकता है कि कितनी सुंदर मेघमालाएँ चली आ रही हैं। यह है प्रकृति का सौंदर्य।

हम गंगोत्री जा रहे थे। चारों ओर सुनसान डरावना जंगल था। जरा सी पत्तों की सरसराहट हो तो लगे कि साँप है। हवा चले, वृक्षों के बीच सीटी सी बजे तो लगे कि भूत है। अच्छे-खासे मजबूत आदमी के नीरव एकाकी वियाबान में होश उड़ जाएँ, पर हमने उस सुनसान में भी प्रसन्नता का

स्रोत ढूँढ़ लिया। 'सुनसान के सहचर' हमारी लिखी किताब आपने पढ़ी हो तो आपको पता चलेगा कि हर लमहे को जिया जा सकता है, प्रकृति के साथ एकात्मकता रखी जा सकती है। अब हम बार-बार याद करते हैं उस स्थान की जहाँ हमारे गुरु ने हमें पहले बुलाया था। अब तो हम कहीं जा भी नहीं पाते, पर प्रकृति के सान्निध्य में अवश्य रहते हैं। हमारे कमरे में आप चले जाइए। आपको सारी नेचर की, प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों की तसवीरें वहाँ लगी मिलेंगी। बादलों में, झील में, वृक्षों के झुरमुटों में, झरनों में से खुशी छलकती दिखाई देती है। वहाँ कोई देवी-देवता नहीं है, मात्र प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों की तसवीरें हैं। हमें उन्हीं को देखकर अंदर से अत्यधिक खुशी मिलती है।

जीवन का आनंद सदैव भीतर से आता है। यदि हमारे सोचने का तरीका सही हो तो बाहर जो भी क्रिया-कलाप चल रहे हों उन सभी में हमको

खुशी ही खुशी बिखरी दिखाई पड़ेगी। बच्चों को देखकर, धर्मपत्नी को देखकर अंदर से आनंद आता है। सड़क पर चल रहे क्रिया-कलापों को देखकर आप आनंद लेना सीख लें, यदि आपको सही विचारणा शक्ति मिल जाए। स्वर्ग आप चाहते हैं तो स्वर्ग के लिए मरने की जरूरत नहीं है, मैं आपको दिला सकता हूँ। स्वर्ग दृष्टिकोण में निहित है। इन आँखों से देखा जाता है। देखने को 'दर्शन' कहते हैं। दर्शन अर्थात दृष्टि। दर्शन अर्थात फिलॉसफी। जब हम किसी बात की गहराई में प्रवेश करते हैं, बारीकी मालूम करने का प्रयास करते हैं; तब इसे दृष्टि कहते हैं। यही दर्शन है। किसी बात को गहराई से समझने का माद्दा आ गया अर्थात दर्शन वाली दृष्टि विकसित हो गई। आपने किताब देखी-पढ़ी पर उसमें क्या देखा? उसका दर्शन आपको समझ में आया या नहीं, सही अर्थों में तभी आपने दृष्टि डाली, यह माना जाएगा।

दृष्टिकोण विकसित होते ही ऐसा आनंद, ऐसी मस्ती आती है कि देखते ही बनता है। दाराशिकोह मस्ती में डूबते चले गए। जेबुन्निसा ने पूछा, "अब्बाजान! आपको क्या हुआ है आज। आप तो पहले कभी शराब नहीं पीते थे। फिर यह मस्ती कैसी?" "बोले, बेटी! आज मैं हिंदुओं के उपनिषद् पढ़कर आया हूँ। जमीन पर पैर नहीं पड़ रहे हैं। जीवन का असली आनंद उनमें भरा पड़ा है। बस यह मस्ती उसी की है।"

यह है असली आनंद। मस्ती, खुशी, स्वर्ग हमारे भीतर से आते हैं। स्वर्ग सोचने का एक तरीका है। किताब में क्या है? वह तो काला अक्षर भर है। हर चीज की गहराई में प्रवेश करने पर जो आनंद-खुशी मिलती है, वह सोचने के तरीके पर निर्भर है। इसी तरह बंधन-मुक्ति भी हमारे चिंतन में निहित है। हमें हमारे चिंतन ने बाँधकर रखा है। हम भगवान के बेटे हैं। हमारे संस्कार हमें कैसे बाँध सकते हैं?

सारा शिकंजा चिंतन का है। इससे मुक्ति मिलते ही सही अर्थों में आदमी बंधन-मुक्त हो जाता है। हमारी नाभि में खुशीरूपी कस्तूरी छिपी पड़ी है। ढूँढ़ते हम चारों ओर हैं। हर दिशा से वह आती लगती है पर होती अंदर ही है।

यदि आपको सुख-शांति मुस्कराहट चाहिए तो दृष्टिकोण बदलिए। खुशी सब ओर बाँट दीजिए। माँ को दीजिए, पत्नी को दीजिए, मित्रों को दीजिए। राजा कर्ण प्रतिदिन सवा मन सोना दान करता था। आपकी परिस्थितियाँ नहीं हैं देने की, किंतु आप सोने से भी कीमती आदमी को खुशी बाँट सकते हैं। आप जानते नहीं हैं,आज आदमी खुशी के लिए तरस रहा है। जिंदगी की लाश इतनी भारी हो गई है कि वजन ढोते-ढोते आदमी की कमर टूट गई है। वह खुशी ढूँढ़ने के लिए सिनेमा, क्लब, रेस्टोरेंट, कैबरे डान्स सब जगह जाता है, पर वह कहीं मिलती नहीं। खुशी दृष्टिकोण में है, जिसे मैं ज्ञान की संपदा

कहता हूँ। जीवन की समस्याओं को समझकर अन्यान्य लोगों से जो डीलिंग की जाती है, वह ज्ञान की देन है। वही व्यक्ति ज्ञानवान होता है जिसे खुशी तलाशना व बाँटना आता है। ज्ञान पढ़ने-लिखने को नहीं कहते। वह तो कौशल है। ज्ञान अर्थात नजरिया, दृष्टिकोण, व्यावहारिक बुद्धि।

मैंने आपको दो शक्तियों के बारे में बताया। पहली श्रम की शक्ति जो आपको दौलत, कीर्ति, यश देती है। दूसरी विचारणा की शक्ति जो आपको प्रसन्नता व सही दृष्टिकोण देती है। तीसरी शक्ति रूहानी है। वह है आदमी का व्यक्तित्व। व्यक्ति का वजन। कुछ आदमी रूई के होते हैं व कुछ भारी। जिनकी हैसियत वजनदार व्यक्तित्व की होती है, वे जमाने को हिलाकर रख देते हैं। कीमत इनकी करोड़ों की होती है। वजनदार आदमी यदि हिंदुस्तान की तवारीख से काट दें तो इसका बेड़ा गर्क हो जाए। जिसके लिए हम फूले फिरते हैं,

वह वजनदार आदमियों का इतिहास है। वजनदारों में बुद्ध को शामिल कीजिए। वे पढ़े-लिखे थे कि नहीं किंतु वजनदार थे। हजारों सम्राटों ने, दौलतमंदों ने थैलियाँ खाली कर दीं। बुद्ध ने जो माँगा वह उनने दिया। हरिश्चंद्र, सप्तर्षि, व्यास, दधीचि, शंकराचार्य, गांधी, विवेकानंद के नाम हमारी कौम के वजनदारों में शामिल कीजिए। इन्हीं पर हिंदुस्तान की हिस्ट्री टिकी हुई है। यदि इन्हें खरीदा जा सका होता तो बेशुमार पैसा मिला होता।

आदमी की कीमत है—उसका व्यक्तित्व। ऐसे व्यक्ति दुनिया की फिजां को बदलते हैं, देवताओं को अनुदान बरसाने के लिए मजबूर करते हैं। पेड़ अपनी आकर्षण शक्ति से बादलों को खींचते व बरसने के लिए मजबूर करते हैं। वजनदार आदमी अपने व्यक्तित्व की मैग्नेट की शक्ति से देवशक्तियों को खींचते हैं। यदि आप भी दैवी अनुदान चाहते हों तो आपको व्यक्तित्व को वजनदार बनाना होगा। दैवी शक्तियाँ

सारे ब्रह्मांड में छिपी पड़ी हैं। सिद्धियाँ जो आदमी को देवता महामानव ऋषि बनाती हैं, सब यहीं हमारे आस-पास हैं। कभी इस धरती पर तैंतीस कोटि देवता बसते थे। सभी व्यक्तित्ववान थे। व्यक्तित्व एक बेशकीमती दौलत है, यह तथ्य आप समझिए। व्यक्तित्व सम्मान दिलाता है, सहयोग प्राप्त कराता है। गांधी जी को मिला, क्योंकि उनके पास वजनदार व्यक्तित्व था।

व्यक्तित्व श्रद्धा से बनता है। श्रद्धा अर्थात सिद्धांतों व आदर्शों के प्रति अटूट व अगाध विश्वास। आदमी आदर्शों के तई मजबूत हो जाता है तो व्यक्तित्व ऐसा वजनदार बन जाता है कि देवता तक नियंत्रण में आ जाते हैं। विवेकानंद ने रामकृष्ण परमहंस की शक्ति पाई, क्योंकि स्वयं को वजनदार वे बना सके। भिखारी को दस पैसे मिलते हैं। कीमत चुकाने वाले को, वजनदार व्यक्तित्व वाले को सिद्धपुरुष का आशीर्वाद मिलता है।

यदि आप किसी आशीर्वाद की कामना से, देवी-देवता की सिद्धि की कामना से यहाँ आए हैं तो मैं आप से कहता हूँ कि आप अपने व्यक्तित्व को विकसित कीजिए ताकि आप निहाल हो सकें। दैवी कृपामात्र इसी आधार पर मिल सकती है और इसके लिए माध्यम है—श्रद्धा। श्रद्धा मिट्टी से गुरु बना देती है। पत्थर से देवता बना देती है। एकलव्य के द्रोणाचार्य मिट्टी की मूर्ति के रूप में उसे तीरंदाजी सिखाते थे। रामकृष्ण की काली भक्त के हाथों भोजन करती थी। उसी काली के समक्ष जाते ही विवेकानंद नौकरी-पैसा भूलकर शक्ति-भक्ति माँगने लगे थे। आप चाहें मूर्ति किसी से भी खरीद लें। मूर्ति बनाने वाला खुद अभी तक गरीब है, पर मूर्ति में प्राण श्रद्धा से आते हैं। हम देवता का अपमान नहीं कर रहे। हमने खुद पाँच गायत्री माताओं की मूर्ति स्थापित की हैं, पर पत्थर में से हमने भगवान पैदा किया है श्रद्धा से। मीरा का गिरधर गोपाल चमत्कारी था। विषधर

सर्पों की माला, जहर का प्याला उसी ने पी लिया व भक्त को बचा लिया। मूर्ति में चमत्कार आदमी की श्रद्धा से आता है। श्रद्धा ही आदमी के अंदर से भगवान पैदा करती है।

श्रद्धा का आरोपण करने के लिए ही यह गुरुपूर्णिमा का त्योहार है। श्रद्धा से हमारे व्यक्तित्व का सही मायने में उदय होता है। मैं अंधश्रद्धा की बात नहीं करता। उसने तो देश को नष्ट कर दिया। श्रद्धा अर्थात आदर्शों के प्रति निष्ठा। जितने भी ऋषि-संत हुए हैं, उनमें श्रेष्ठता के प्रति अटूट निष्ठा देखी जा सकती है। जो कुछ भी आप हमारे अंदर देखते हैं, वह श्रद्धा का ही चमत्कार है। आज से ७२ वर्ष पूर्व हमारे गुरु की सत्ता हमारे पूजाकक्ष में आई। हमने सिर झुकाया व कहा कि आप हुक्म दीजिए, हम पालन करेंगे। अनुशासन व श्रद्धा, गुरुपूर्णिमा इन दोनों का त्योहार है। अनुशासन-आदर्शों के प्रति। यह कहना कि जो आप कहेंगे वही करेंगे। श्रद्धा

अर्थात प्रत्यक्ष नुकसान दीखते हुए भी आस्था, विश्वास, आदर्शों को खोना। श्रद्धा से ही सिद्धि आती है। हमें अपने आप पर घमंड नहीं है, पर विनम्रतापूर्वक कहते हैं कि देवशक्तियों के प्रति हमारी गहन श्रद्धा का ही चमत्कार है, जिसके बलबूते हमने किसी को खाली हाथ नहीं जाने दिया। गायत्री माता श्रद्धा में से निकलीं। श्रद्धा में मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं व सिद्धांतों का संरक्षण करना पड़ता है। हमारे गुरु ने कहा—संयम करो, कई दिक्कतें आएँगी, पर उनका सामना करो। हमने चौबीस वर्ष तक तप किया। जायके को मारा। हम जौ की रोटी खाते। हमारी माँ बड़ी दुखी होती। हमारी तपस्या की अवधि में उनने भी हमारी वजह से कभी मिठाई का टुकड़ा तक न चखा। हमारे गायत्री मंत्र में चमत्कार इसी तप से आया।

आप चाहते हैं कि आपको कुछ मिले, तो वजन उठाइए। हम आपको मुफ्त देना नहीं चाहते, क्योंकि

इससे आपका अहित होगा। वह हम चाहते नहीं। आप हमारा कहना मानें तो हम देने को तैयार हैं। गुरु-शिष्य की परीक्षा एक ही है कि अनुशासन मानते हैं। हम आपके शिष्य ऐसा कहें व मानें। समर्थ ने अपने शिष्य की परीक्षा ली थी व सिंहनी का दूध लाने को कहा था। अपनी आँख की तकलीफ का बहाना करके, सिंहनी कहाँ थी ? वह तो हिप्नोटिज्म से एक सिंहनी खड़ी कर दी थी। शिवाजी का संकल्प था दृढ़ वे ले आए सिंहनी का दूध व अक्षय तलवार का उपहार गुरु से पा सके। राजा दिलीप की गायों को जब माया के सिंह ने पकड़ लिया तो उनने स्वयं को सौंप दिया। इस स्तर का समर्पण हो तो ही गुरु की शक्ति और दैवी अनुदान मिलते हैं। यह आस्थाओं का इम्तिहान है जो हर गुरु ने अपने शिष्य का लिया है।

श्रद्धा अर्थात सिद्धांतों की भावनाओं का आरोपण ! कहा गया है "**भावे न विद्यतो देव तस्मात् भावो हि कारणम्**" अर्थात भावना का आरोपण

करते ही भगवान प्रकट हो जाते हैं। भगवान अर्थात सिद्धि। हर आशीर्वाद सिद्धि का आधार, फीस एक ही है—श्रद्धा। उसे विकसित करने के लिए अभ्यास हेतु गुरुपूर्णिमा पर्व। गुरुतत्त्व के प्रति श्रद्धा का अभ्यास आज के दिन किया जाता है। गुरु अंतरात्मा की उस आवाज का नाम है, जो भगवान की गवर्नर है। हमारी सत्ता उसी को समर्पित है। वही हमारी सद्गुरु है। गुरु को ब्रह्मा कहा गया है अर्थात हमारी सुपर कांशसनेस, हमारा अतिमानस। अच्छा काम करते ही यह हमें शाबाशी देता है। गलत काम करते ही धिक्कारता है। गुरु ही ब्रह्मा है, विष्णु है, महेश है। गुरु अर्थात भगवान का प्रतिनिधि। गुरु को जाग्रत-जीवंत करने के लिए एक खिलौना बनाकर श्रद्धा का आरोपण हम जिस पर भी करते हैं, वही गुरु बन जाता है। इसमें दोनों बातें हैं। मानवी कमजोरियाँ भी हो सकती हैं। उनको न देखकर हम अच्छाइयों के प्रति श्रद्धा विकसित करें। आप हमें मानते हैं तो

हमारा चित्र देखते ही श्रेष्ठतम पर विश्वास करने का अभ्यास करें। यह एक व्यायाम है, रिहर्सल है। इसी के आधार पर हम अपने अंदर का सुपरचेतन जगाते हैं। प्रतीक की आवश्यकता इसी के कारण पड़ती है।

हमारी अटूट श्रद्धा की प्रतिक्रिया लौटकर हमारे पास ही आ जाती है। एक शिष्य गुरु के चरणों की धोवन को श्रद्धापूर्वक दुखी-कष्टपीड़ितों को देता था। सब ठीक हो जाते थे, पर जब गुरु ने उसी धोवन का चमत्कार जानकर अपने पैरों को जल से धोकर वह जल औरों को दिया तो कुछ भी न हुआ। दोनों जल एक ही हैं, पर एक में श्रद्धा का चमत्कार है। उसी कारण वह अमृत बन गया। जबकि दूसरा मात्र धोवन का जल रह गया है। श्रद्धा आध्यात्मिक जीवन का प्राण है, रीढ़ है। देवपूजन आपको सफलता की कामना से करना हो तो श्रद्धा विकसित करके कीजिए। साधनाएँ मात्र क्रिया हैं यदि उनमें श्रद्धा का समन्वय नहीं है। आदमी की जो भी कुछ आध्यात्मिक

उपलब्धियाँ हैं, वे श्रद्धा पर टिकी हैं। आपकी अपने प्रति यदि श्रेष्ठ मान्यता है, आपकी श्रद्धा वैसी है तो असल में वही हैं आप। यदि इससे उलटा है तो वैसे ही बन जाएँगे आप। गुरुपूर्णिमा श्रद्धा के विकास का त्योहार है। हमारे गुरु ने अनुशासन की कसौटी पर कसकर हमें परखा है, तब दिया है। हमारे जीवन की हर उपलब्धि उसी अनुशासन की देन है। वेदों के अनुवाद से लेकर ब्रह्मवर्चस के निर्माण तथा चार हजार शक्तिपीठों को खड़ा करने का काम एक ही बलबूते हुआ—गुरु ने कहा कर। हमने कहा, '**करिष्ये वचनं तव।**' गुरु श्रीकृष्ण के द्वारा गीता सुनाए जाने पर शिष्य अर्जुन ने यही कहा कि सारी गीता सुन ली। अब जो आप कहेंगे, वही करूँगा।

ॐ शांतिः

श्रद्धा का आधार और अवलंबन

भौतिक क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए ऊर्जा की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। उसके बिना न कुछ उगता है, न पकता है और न बढ़ता-बदलता है। ठीक इसी प्रकार अध्यात्म क्षेत्र की ऊर्जा एक ही है, जिसे श्रद्धा के नाम से जाना जाता है। चेतना को उत्कृष्टता की ओर उभारने के लिए श्रद्धा के बिना एक कदम भी आगे बढ़ सकना संभव नहीं।

पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है। ऊपर से गिरी हुई वस्तु नीचे की ओर गिरती है। निम्न योनियों में भ्रमण करते हुए मनुष्य भी संचित कुसंस्कारों से प्रभावित बना रहता है। अवसर आते ही वह उन कुसंस्कारों को चरितार्थ भी करने लगता है। यही कारण है कि मनुष्य शरीरधारियों में से अधिकांश पशु-प्रवृत्तियों में संलग्न पाए जाते हैं। उन्हें पेट और प्रजनन के अतिरिक्त और किसी कार्य

में रुचि नहीं होती। मन और बुद्धि का परिकर लोभ, मोह और अहंकार के ताने-बाने बुनता रहता है। लालसा और लिप्सा की सनक नशा पीकर उन्मत्त हुए व्यक्ति पर चढ़ी खुमारी की तरह छाई रहती है। इसी में उसे अपनी बुद्धिमत्ता और सफलता भी दीखती है। कई बार तो वह इस स्थिति पर गर्व भी कर लेता है और बढ़ी हुई दुर्भावना तथा दुष्प्रवृत्तियों की दिशा में और भी अधिक बढ़ता है।

यह लोक प्रवाह हुआ। चर्चा इससे प्रतिकूल पक्ष की करनी है—आत्मिक प्रगति की। इसके दो पक्ष हैं—एक आत्मसुधार और आत्मविकास, दूसरा लोकमंगल का पुण्य-परमार्थ। इन्हीं दो को आत्मिक प्रगति का आधारभूत लक्षण माना गया है। इन प्रयत्नों को कुछ लोग करते भी हैं, तो वह एक कुतूहल की तरह यत्किंचित ही बन पड़ता है। अंतराल की गहराई तक जमी हुई पशु-प्रवृत्तियों से जूझना सहज काम नहीं है। वे छापामार नीति की अभ्यस्त होती हैं।

दबाव पड़ने पर दब भी जाती हैं, पर जब भी चौकीदार को बेखबर पाती हैं, तभी हमला बोल देती हैं। इस प्रकार करा-धरा सब कुछ गुड़-गोबर होता रहता है। आत्मिक प्रगति के लिए किए गए प्रयासों की गरमी ठंढी होते ही फिर पुराना माहौल अपना आधिपत्य जमा लेता है। साधकों की असफलता का मुख्य कारण प्रायः यही होता है। वे जागरूकता और निष्ठा को सतत निरंतर बनाए नहीं रह पाते।

आत्मिक प्रगति के लिए दो उपचार निरंतर करते रहने की आवश्यकता पड़ती है—एक संयम साधना व दूसरी परमार्थपरायणता। इन दोनों में ही प्रत्यक्षतः हर किसी को घाटा दीखता है। संयम की दिशा में जितना बढ़ा जाता है, उतना ही सुख-सुविधा में, वासना-विलासिता में, ठाठ-बाट में कटौती आरंभ हो जाती है। औसत नागरिक स्तर का जीवनयापन करने के लिए तत्पर होने पर दूसरों की तुलना में अपना सरंजाम हलका पड़ जाता है। सुविधाएँ

घट जाती हैं। डींग हाँकने और वाहवाही लूटने जैसा भी कुछ शेष नहीं बचता। यह त्याग-बलिदान जैसा मार्ग है, अपने को आदर्शों के लिए समर्पित करने जैसा। इसे व्यक्तित्व का कायाकल्प करने जैसा माना जा सकता है। विलासप्रिय कुटुंबी, सहयोगी, संबंधी भी इससे चिढ़ने लगते हैं। समर्थन करना तो दूर उलटा उपहास उड़ाते और सनकी ठहराते हैं।

दूसरा अवलंबन है—परमार्थ। इसमें अपने समय, श्रम, मनोयोग, साधन, प्रतिभा, प्रभाव आदि उपलब्धियों को स्वार्थ-साधन से बचाकर पिछड़ों को बढ़ाने, गिरों को उठाने और सँभलों को उछालने में लगाना पड़ता है। सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन और दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन को भी उतना ही महत्त्व देना पड़ता है। इस मार्ग पर चलना संयम साधना से भी भारी पड़ता है। संयम में तो जहाँ के तहाँ तो भी बैठे रहना पड़ता है, परंतु परमार्थ में तो अपनी संचित संपदा को अन्यान्यों के लिए विसर्जित करते रहना

पड़ता है। यह प्रत्यक्षतः घाटे का सौदा है। अपना नुकसान सहकर दूसरों की भलाई करने के लिए जिस उदार साहसिकता की आवश्यकता पड़ती है, वह कहाँ से आए? आदर्शवादिता की भाव-संवेदना ढीली हो तो फिर उस उत्साह में भी स्थिरता नहीं रह पाती। पानी में उठा बबूला कुछ ही समय में शांत, समाप्त हो जाता है। कुछ प्रशंसा दिलाने वाली घटनाओं को स्मरण रखा जाता है और उन्हीं का बार-बार ढिंढोरा पीटते रहा जाता है। निरंतर यह क्रम कहाँ चल पाता है? परमार्थ को नित्यकर्म में सम्मिलित करते रहना कितना कठिन है, उसे सभी मुक्तभोगी भली प्रकार अनुभव करते हैं। मन का चोर और तथाकथित हितैषियों का दबाव रास्ता रोकने और पीछे खींचने में कोई कसर नहीं रहने देता। देखा गया है कि जिस-तिस बहाने की आड़ में पुण्य-परमार्थ भी शिथिल हो जाता है। निरंतर की व्रतशीलता निभ नहीं पाती।

इन अवरोधों से कैसे जूझा जाए? लक्ष्य की दिशा में निरंतर प्रयास करते रहने की व्रतशीलता का निर्वाह कैसे किया जाए? इन दोनों कठिनाइयों की मिली-जुली चौड़ी धार वाली महानदी को किस नाव पर बैठकर पार किया जाए? इस असमंजस भरे अंधकार के बीच प्रकाश की एक ही किरण उग सकती है और वह है—श्रद्धा।

श्रद्धा क्या है? इसकी एक शब्द में इतनी ही परिभाषा बताई जा सकती है कि आदर्शों के प्रति समर्पित अंतराल की भाव-संवेदना। जिसमें सभी महत्त्वाकांक्षाओं का विसर्जन करना पड़ता है। भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ ही उच्चस्तरीय भाव-संवेदनाओं को कुंठित करती हैं। इस महाभारत को जाने बिना कोई धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में अवस्थित गांडीवधारी साधक न तो विजयपताका फहराने की स्थिति तक पहुँच सकता है और न उसके रथ को सँभालने, चलाने के लिए कोई दिव्य तेजस्वी सारथी की भूमिका निभाने दौड़ा आ सकता है।

भौतिक क्षेत्र में जो महत्त्व ऊर्जा का है, ठीक वही भूमिका आत्मिक क्षेत्र में श्रद्धा निभाती है। चेतना को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाल सकने वाली यही कारगर भट्ठी है। श्रद्धाविहीन को आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर कुछ कदम चल सकना भी कठिन पड़ता है। वह पक्षाघात पीड़ित की तरह कुछ कदम चलकर ही लड़खड़ा जाता है और धड़ाम से नीचे गिरता है।

श्रद्धा ही एकमात्र वह अवलंबन है जिस पर बिठाकर आत्मचेतना को प्रक्षेपास्त्र की तरह गुरुत्वाकर्षण रहते अंतरिक्ष तक पहुँचाया जा सकता है। अध्यात्म क्षेत्र के जितने भी चमत्कार हुए हैं, उन सबको श्रद्धा की ही परिणति कह सकते हैं। वही पाषाण प्रतिमा में सशक्त देवता का उद्भव करती है, उसी के प्रताप से मिट्टी का ढेला गणेश बन जाता है और वैसा ही प्रतिफल उपलब्ध कराता है। एकलव्य के द्रोणाचार्य, मीरा का पाषाण खंड गिरधर गोपाल, रामकृष्ण परमहंस की काली, शिवाजी की भवानी

प्रकारांतर से श्रद्धा की ही परिणति थी। यदि उन कलेवरों में से श्रद्धा के प्राण को विलग कर दिया जाए तो उनका कलेवर नगण्य स्थिति का बनकर रह जाता है।

भयोत्पादक क्षेत्रों में झाड़ी का भूत बनने और उससे डरकर कइयों को बीमार पड़ते मौत के मुँह में जाते देखा गया है। रस्सी का साँप बन जाता है। वह कथा बहुतों ने सुनी होगी, जिसमें मृत्यु पाँच हजार को मारने आई थी, पर पंद्रह हजार मर गए। यमराज ने जवाब-तलब किया तो मौत ने संक्षेप में इतना ही उत्तर दिया कि उसने तो पाँच हजार ही मारे, शेष दस हजार तो डर के मारे मर गए और उसके पीछे लग गए। यंत्रविद्या की सारी प्रक्रिया इस डरने-डराने के ऊपर ही टिकी हुई है।

श्रद्धा में भाव-संवेदना तो प्रधान होती है, पर वह अविवेकपूर्ण नहीं होती। उसमें व्यक्ति आदर्शों को प्राणप्रिय मानकर उसके लिए उसी प्रकार समर्पित

हो जाता है, जिस प्रकार कि भक्त भगवान के लिए समर्पित होता है। भक्तों में हनुमान का उदाहरण प्रमुख है। रामभक्त भरत की चर्चा भी इसी रूप में होती है। पतिव्रताओं के आत्मसमर्पण का भी उल्लेख इसी रूप में होता है।

यों प्रचलन के हिसाब से भगवान की कोई प्रतिमा कल्पित कर ली जाती है और उसी की पूजा-अर्चा, ध्यानधारणापरक क्रिया-कृत्यों को ही श्रद्धा भक्ति की अभिव्यक्ति मान लिया जाता है। इसे प्रयास का शुभारंभ कह सकते हैं, मार्गदर्शक पट्टिका की तरह, पर इस संकेत से दिशामात्र का बोध होता है। इतने भर से महायात्रा पूरी नहीं होती। इसके लिए तो लंबी दूरी पार करने की, आवश्यक पाथेयसमेत यात्रा करनी होती है।

यह मार्ग है श्रद्धा के अवलंबन का। वह चेतना क्षेत्र की प्रचंड ऊर्जा है। वह न केवल लक्ष्य गढ़ती है, वरन उस पर चलने के लिए

आवश्यक सामर्थ्य भी प्रदान करती है। आदर्शवाद की दिशा में महामानवों द्वारा जो कुछ भी जितनी कुछ भी बढ़त बन पड़ती है, उसके मूल में श्रद्धा की शक्ति ही काम करती रहती है। बिना उसके न तो आत्मसंयम बरतना बन पड़ता है और न त्याग-बलिदान करते। इसके बिना आदर्शवाद का निर्वाह कैसे हो? सेवा साधना के लिए श्रम साधना लगाते कैसे बन पड़े? मन कैसे खाली हो जो वासना, विलासिता, अहंता, संकीर्णता से ऊँचा उठकर कुछ ऐसा सोच सके जिसमें उत्कृष्टता अपनाने के लिए उमंग उमगे और कारगर योजना बने। श्रद्धाविहीन इस दिशा में कुछ भी सोचने में असमर्थ रहते हैं। यह दूसरी बात है कि लोग दिखावे के लिए अपने को पुण्यात्मा और उदारचेता सिद्ध करने के लिए जब-तब कोई शिगूफे छोड़ते रहें, पर वह पोल अधिक समय तक बिना खुले रहती भी तो नहीं। वास्तविक और चिरस्थायी

श्रेष्ठता का अर्जन कर सकने में श्रद्धा को अंतराल की गहराई में उतारे बिना और कोई उपाय भी तो नहीं।

आमतौर में श्रद्धा की यह गरिमा और महिमा समझ सकना सामान्य मनःस्थिति में संभव भी नहीं हो पाता। इसके बिना न देवता अनुकूल बनते हैं, न भगवत् चेतना के साथ अपने को जोड़ सकना संभव होता है। अंतराल में दबी हुई, सोई हुई महानता का भी इसके अभाव में स्फुरण नहीं होता। उत्कृष्टता इन लक्षणों में से एक भी न उभरे तो व्यक्तित्व में वह प्रखरता कैसे उभरे जिसके सहारे स्वयं ऊँचा उठा और दूसरों को आगे बढ़ाया जाता है। आत्मविकास की दिशा में बढ़ने वाले के लिए श्रद्धा का अवलंबन अनिवार्य है। इसके बिना कोई आत्मप्रवंचना में भले ही लगा रहे, पर ऐसा कुछ पा नहीं सकता, जिसे महत्त्वपूर्ण कहा और माना जा सके। जब कुछ बोया ही नहीं गया है तो काटने को कैसे मिलेगा ? उत्कृष्टता

के क्षेत्र में जो बोया गया है, वही आत्मविकास के रूप में उगकर कोठे भरता है। इस बीज का संचय इसी आधार पर बन पड़ता है कि अपने को तप-तितिक्षा की कसौटी पर कसा जाए। लिप्सा-लालसाओं में कटौती करके उस बचत को आत्मोत्कर्ष के लिए नियोजित किया जाए। यह सब करा सकने की शक्ति मात्र श्रद्धा से ही उपलब्ध होती है।

श्रद्धा आकर्षणों, प्रलोभनों और दबावों के आगे झुकने से निरंतर इनकार करते रहने का रुख अपनाने का साहस देती है। गिरावट के ऐसे अवसरों की कमी नहीं जो दुर्बल मन वालों को सहज ही अपनी ओर खींच लेते हैं। जो संकीर्ण स्वार्थपरता की परिधि को लाँघने से स्पष्ट इनकार करते और इसके लिए चारों ओर फैले हुए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं,उनका कहना है, जब सभी चतुर लोग अपने मतलब से मतलब रखते हैं और दूसरों के झंझट में नहीं पड़ते तो अपने को ही क्या पड़ी है जो स्वयं को निरंतर

कसते रहें और दूसरों पर अपनी क्षमता का लाभ उलीचते चलें। आदर्शवादी कौन बनता है? सभी अपने धंधे में लगे हैं, फिर हमें ही क्या ऐसा कुछ करना और सोचना चाहिए कि उसके आदर्शों के नाम पर अपनी दुर्गति बनाने की मूर्खता अपनाई जाए?

ऐसे-ऐसे अनेकानेक तर्कों, उदाहरणों की झड़ी लगती रहती और बढ़े हुए कदम पीछे लौटाने के लिए भरपूर दबाव डालती रहती है। अकेली श्रद्धा ही है, जो इन सबसे जूझती रहती है। चट्टान की तरह पैर जमाने और निर्धारित लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ते रहने की प्रेरणा देती रहती है।

गया-गुजरा जीवन स्वीकार करने के लिए महामानवों की अंतश्चेतना सदा इनकार करती रहती है, मानवी गरिमा का मूल महत्त्व समझाती रहती है, लोक-प्रवाह की अनुपयुक्तता और अंत में हाथ लगने वाली दुर्गति का स्पष्ट चित्र खड़ा करती रहती है। सावधान करने के लिए इतना ही पर्याप्त रहता है।

उसके सहारे काम चल भी जाता और समूचा जीवन एक सुव्यवस्थित योजना के अनुरूप ढल भी जाता है। यही है आत्मसत्ता के प्रति विश्वास, श्रद्धा के अवलंबन की शक्ति जो किसी साधारण मानव को महामानव, देवपुरुष की श्रेणी में ला खड़ा कर देती है।

❐

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)